आपने लिखा

शैक्षणिक संदर्भ अंक 90, जनवरी-फरवरी 2014 के प्रत्येक पन्ने का इस बार गहनता से अध्ययन किया। इस बार सुशील शुक्ल द्वारा लिखित आलेख 'साहित्य और पढ़ना सीखना के इर्द-गिर्द कुछ बातें' बेहद मर्मस्पर्शी रहा।

शिक्षा का जो स्तर आज हमारे सामने है उस पर कई तरह से विचारों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में आलेख में सुशील जी ने बड़ी गहराई के साथ बच्चे की भाषा बनाम स्कूली भाषा, पढ़ना सीखना और शुरुआती साहित्य, साहित्य में उनकी मौजूदगी, बच्चों के अनुभव और कल्पनाएँ, दोहरावों में भाषा के खेल - जैसे, पैसे पास होते तो..., हलीम चला चाँद पर - बड़े अच्छे से बताया है। कुछ ऐसी मूल बातें हैं जिसके आधार पर पूरे शिक्षा जगत में जिस तरह शिक्षकीय पेशे का बाज़ार हो रहा है इसे जन-जन से साझा करना ज़रूरी जान पड़ता है।

मैं स्वयं इस बात से दो-चार हो चुका हूँ। मुझे 1998 में छत्तीसगढ़ के दक्षिण बस्तर दन्तेवाड़ा के गीदम ब्लॉक के निजी स्कूल में दस साल पढ़ाने का मौका मिला। इस दरमियान माँ की बोली छत्तीसगढ़ी का उपयोग करते हुए हिन्दी सीखना एवं अंचल में सर्वाधिक बोली जाने वाली हल्बी बोली में बच्चों को कुछ सिखाना मेरे लिए बेहद रोमांचक रहा। शुरुआत के दिनों में सब्ज़ी खरीदना उतना ही मुश्किल था जितना विदेशों में रह कर जीवन-यापन करना। तीन महीने तक मकान मालिक के माध्यम से दैनिक क्रियाकलाप की वस्तुएँ आती रहीं पर मुझे बाद में ऐसा लगा कि भाषाई बन्धन को तोड़ने की ज़रूरत है। इस तरह आगे चलकर सब्ज़ी बेचने वालों के पास जाकर बार-बार सब्ज़ियों के नाम छत्तीसगढ़ी से जोड़कर एवं उनके लिए हल्बी में प्रयुक्त शब्दों का इस्तेमाल करना शुरू किया जैसे टमाटर को पताल व हल्बी में माटबांगा, खट्टीभाजी को अमारी भाजी व हल्बी में भेण्डाभाजी, भिण्डी को रमकलिया व हल्बी में रमकेरा आदि। सीखने की कोशिश करने पर कुछ दिनों बाद कुछ-कुछ हल्बी बोलने की शुरुआत हुई। आपका आलेख पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि बच्चों को घर की बोली के लिए कुछ समय व प्रयोग के मौके देने चाहिए।

सच है कि आज के परिवेश में बच्चों का ऐसा साहित्य बहुत कम मिलता है जो उन्हें उनकी ही भाषा में पढ़ने व सीखने के मौके उपलब्ध कराए। और कहानियों का अपना ही संसार होता है। क्यों न हमारे अनुभवी उम्रदराज़ जिन्होंने जो जिया है, जो पाया है, अपनी ही ज़ुबानी बच्चों को कहानियाँ सुनाएँ। इसका असर प्रभावकारी हो सकता है। मैं कई बार अपने शिक्षकीय काल में ऐसा किया करता था पर संस्था के अन्य शिक्षक इसे केवल समय गुज़ारने वाला काम समझते थे। पर जब परिणाम आए तब हर कोई ऐसी गतिविधियों को सार्थक मानने लगता था। कहने का मतलब यह है कि शुरू में हर कोई विरोध करता है मगर परिणाम के बाद सब दिल से स्वीकार करते हैं। इस बेहतरीन आलेख के लिए सुशील शुक्ल जी को हार्दिक बधाई।

नरेन्द्र कुमार साहू,
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, धमतरी, छत्तीसगढ़